नईदुनिया

संपादकीय

सौ साल का इंतजार और आस्था की जीत

खुले मंदिर के कपाट तो छलक पड़े आंसू

समरसता की दिशा में बढ़ा यह कदम मंदिर की चौखट पर खत्म हुए एक सदी के इंतजार की कहानी है। यह सिर्फ एक खबर नहीं, बल्कि उस भारत की धड़कन है जिसे हम अक्सर भूल जाते हैं। कर्नाटक के चिक्कमंगलूर जिले के निदघट्टा गांव स्थित श्री आंजनेयरस्वामी मंदिर के दरवाजे करीब 100 साल बाद दलित समुदाय के लिए खुल गए। क्षेत्र की परंपरा के अनुसार मंदिर में दलित समुदाय के प्रवेश पर प्रतिबंध था। वे मंदिर के बाहर से ही सिर झुकाते, हाथ जोड़ते और लौट जाते थे। अब वे मंदिर में प्रवेश कर भगवान के दर्शन और आशीर्वाद प्राप्त कर सकेंगे।

पहली बार मंदिर में जाकर प्रार्थना करते हुए दलित समुदाय के कई लोगों की आंखें भर आईं। यह आंसू केवल खुशी के नहीं थे, बल्कि सौ साल के अपमान, पीढ़ियों के इंतजार और टूटती सामाजिक बेड़ियों के भी थे। यह घटना हमें आईना दिखाती है। हम चांद पर पहुंच गए, कृत्रिम बुद्धिमत्ता विकसित कर रहे हैं, लेकिन अपने ही देश में अपने ही लोगों को भगवान के घर से दूर रखते रहे। यह कैसी विडंबना है?

मंदिर वह स्थान है जहां सब समान होते हैं, जहां जाति नहीं, केवल भक्ति का महत्व होता है। लेकिन हमने मंदिरों को भी भेदभाव का प्रतीक बना दिया। उस बच्चे के बारे में सोचिए जो हर बार मंदिर के बाहर से लौटकर पूछता था, 'हम अंदर क्यों नहीं जा सकते?' उस मां के बारे में सोचिए जो अपनी मन्नत लेकर मंदिर तक आती थी, लेकिन देहरी नहीं लांघ पाती थी। यह प्रतिबंध केवल पत्थर की दीवार का नहीं, बल्कि मन की दीवार का था, और मन की दीवार सबसे कठिन होती है।

अब यह दीवार टूटी है। पुलिस प्रशासन, सामाजिक कार्यकर्ताओं और गांव के समझदार लोगों के प्रयासों से यह संभव हो सका। जिला प्रशासन ने शांति बनाए रखने के लिए पर्याप्त पुलिस बल तैनात किया, लेकिन असली जीत पुलिस की नहीं, बल्कि बदली हुई सोच की है। गांव के लोगों ने स्वीकार किया कि गलती हुई थी और अब उसे सुधारना जरूरी है। यह केवल मंदिर का द्वार खुलने की घटना नहीं, बल्कि समाज के लिए नई राह का संकेत है। यह बताती है कि बदलाव देर से सही, लेकिन आता जरूर है। इसके लिए साहस, पहल और संवाद की आवश्यकता होती है।

इस घटना से तीन महत्वपूर्ण सीख मिलती हैं। पहली, आस्था पर किसी एक वर्ग का अधिकार नहीं है। भगवान सबके हैं और मंदिर भी सबके हैं। दूसरी, परंपरा के नाम पर अन्याय को ढोना धर्म नहीं है। धर्म वह है जो जोड़ता है, तोड़ता नहीं। तीसरी, बदलाव के लिए केवल कानून नहीं, बल्कि समाज की इच्छा भी जरूरी है। संविधान का अनुच्छेद 17 छुआछूत को समाप्त करता है, लेकिन कानून तभी प्रभावी होता है जब समाज उसे स्वीकार करे।

निदघट्टा गांव ने पूरे देश को संदेश दिया है कि यदि नीयत साफ हो तो सौ साल पुरानी बेड़ियां भी टूट सकती हैं। अब हमें अपने आसपास भी देखना होगा कि कहीं हमारे गांव, शहर या मन में ऐसी कोई अदृश्य दीवार तो नहीं, जिसे हम परंपरा के नाम पर ढो रहे हैं। मंदिर में छलके वे आंसू शिकायत के नहीं, बल्कि सम्मान और स्वीकार्यता के थे। अब समय है कि हर भेदभाव की दीवार गिरे, ताकि हर भारतीय बिना किसी भय या भेदभाव के ईश्वर के सामने सिर झुका सके। यही सच्ची पूजा, सच्चा धर्म और वास्तविक सामाजिक समरसता है।

आजकल

करोड़ों की चमक के पीछे लापरवाही का अंधेरा

भोपाल स्टेशन पर झरने का जिम्मेदार कौन?

भोपाल स्टेशन की छत से पानी झरने की तरह बहा। यह सिर्फ बारिश की घटना नहीं थी, बल्कि व्यवस्था की नाकामी का आईना थी। सवाल सीधा है कि करोड़ों रुपये खर्च होने के बाद भी बुनियादी ढांचा पहली ही बारिश में क्यों चरमरा गया और इस बड़ी लापरवाही के लिए आखिर जिम्मेदार कौन है?

किसी भी सरकारी परियोजना की गुणवत्ता उसकी निर्माण प्रक्रिया से तय होती है। जब छत से पानी रिसता है तो इसका अर्थ है कि वाटरप्रूफिंग में घटिया सामग्री का इस्तेमाल हुआ होगा, ढलान सही नहीं बनाया गया होगा या जोड़ों पर सीलेंट का काम ठीक से नहीं हुआ होगा। टेंडर लेने के बाद लागत बचाने के लिए अक्सर ठेकेदार निर्धारित मानकों से समझौता कर लेते हैं और यदि निगरानी कमजोर हो तो ऐसी खामियां आसानी से छिप जाती हैं। रेलवे के इंजीनियरिंग और निर्माण विभाग के अधिकारियों, साइट इंजीनियरों और गुणवत्ता नियंत्रण टीम को हर चरण में निरीक्षण करना चाहिए था। हैंडओवर से पहले थर्ड पार्टी परीक्षण और मानसून पूर्व मॉक टेस्ट भी अनिवार्य होने चाहिए थे। यदि ये नहीं हुए तो यह स्पष्ट लापरवाही है और यदि हुए, फिर भी खामी रह गई तो जांच रिपोर्ट पर सवाल उठना स्वाभाविक है।

करोड़ों रुपये का बजट किस आधार पर स्वीकृत हुआ और भुगतान किन गुणवत्ता प्रमाणपत्रों के आधार पर किया गया, इसकी भी जवाबदेही तय होनी चाहिए। अक्सर जल्दबाजी में उद्घाटन कर अधूरे कार्यों को पूरा दिखा दिया जाता है, जबकि उसका खामियाजा आम नागरिक को भुगतना पड़ता है।

समाधान केवल मरम्मत नहीं, बल्कि जवाबदेही तय करना है। पूरे स्टेशन की छत और ड्रेनेज का थर्ड पार्टी ऑडिट कराया जाए, परियोजना का पूरा ब्यौरा सार्वजनिक किया जाए, दोषी ठेकेदार को ब्लैकलिस्ट कर उससे वसूली की जाए और जिम्मेदार अधिकारियों पर विभागीय कार्रवाई हो। विकास का अर्थ केवल करोड़ों रुपये खर्च करना नहीं, बल्कि हर रुपये की जवाबदेही सुनिश्चित करना है।

नियम कागजों में और जहरीला धुआं सड़कों पर ...

जहरीले कचरे पर नौकरशाही की चुप्पी और एनजीटी की अनदेखी

एनजीटी पहले भी कई बार राज्यों को फटकार लगा चुका है कि जैव-चिकित्सा कचरे का सही निपटान न होने पर जुर्माना लगाया जाए और अस्पताल का लाइसेंस रद्द किया जाए। लेकिन भोपाल में आज तक किसी बड़े निजी अस्पताल पर कड़ी कार्रवाई की खबर सामने नहीं आई।

भोपाल की सड़कों पर जब सुबह लोग सैर के लिए निकलते हैं तो काले धुएं का गुबार उनकी सांसों में जहर घोल देता है। यह धुआं किसी फैक्ट्री का नहीं, बल्कि उन अस्पतालों के जैव-चिकित्सा कचरे का है, जिसे इंसीनेटर में जलाया जाना चाहिए था, लेकिन खर्च बचाने की लापरवाही ने उसे खुले में स्वाहा कर दिया। तस्वीरें गवाही दे रही हैं कि राजधानी के बाहरी इलाकों में रात के अंधेरे में ट्रकों से कचरा लाकर जलाया जा रहा है और दिन ढलते ही राख के ढेर हवा में उड़कर लोगों के फेफड़ों तक पहुंच रहे हैं।

नियम साफ कहते हैं कि अस्पतालों से निकलने वाली पट्टियां, सिरिंज, ग्लव्स, प्लेसेंटा और अंगों के अवशेष जैसे जैव-चिकित्सा कचरे को केवल अधिकृत इंसीनेटर में 850 डिग्री सेल्सियस से अधिक तापमान पर जलाया जाए, ताकि डाइऑक्सिन और फ्यूरान जैसी जहरीली गैसें न बनें। बायोमेडिकल वेस्ट मैनेजमेंट रूल्स, 2016 में यह भी प्रावधान है कि हर अस्पताल कचरे को रंगीन थैलियों में अलग करेगा, बारकोड लगाएगा और अधिकृत एजेंसी को सौंपेगा। इसके बाद जीपीएस लगे वाहनों से कचरा इंसीनेटर तक पहुंचाया जाएगा। लेकिन जमीनी हकीकत यह है कि भोपाल में कई निजी अस्पताल और छोटे नर्सिंग होम इस प्रक्रिया से बच रहे हैं। कारण साफ है। इंसीनेटर में एक किलो कचरा जलाने का खर्च 20 से 25 रुपये आता है और छोटे अस्पतालों से रोज 10 से 15 किलो कचरा निकलता है। महीने का बिल हजारों रुपये तक पहुंच जाता है। इस खर्च से बचने के लिए कुछ संचालक रात में ठेकेदारों को कचरा सौंप देते हैं, जो उसे शहर के बाहर खुले में जला देते हैं। इससे अस्पतालों का खर्च बच जाता है और ठेकेदार को भी मेहनताना मिल जाता है।

प्रदूषण नियंत्रण बोर्ड के अधिकारी और नगर निगम के अफसर इस खुले खेल को देखकर भी चुप क्यों हैं? बायोमेडिकल वेस्ट की निगरानी के लिए जिला स्तरीय समिति बनी है, जिसमें कलेक्टर, सीएमएचओ और प्रदूषण नियंत्रण बोर्ड के अधिकारी शामिल हैं। लेकिन समिति की बैठकें कागजों तक ही सीमित हैं। निरीक्षण के नाम पर चुनिंदा बड़े अस्पतालों में खानापूर्ति होती है, जबकि छोटे नर्सिंग होम बिना जांच के संचालित हो रहे हैं।

एनजीटी पहले भी कई बार राज्यों को फटकार लगा चुका है कि जैव-चिकित्सा कचरे का सही निपटान न होने पर जुर्माना लगाया जाए और अस्पताल का लाइसेंस रद्द किया जाए। लेकिन भोपाल में आज तक किसी बड़े निजी अस्पताल पर कड़ी कार्रवाई की खबर सामने नहीं आई। प्रदूषण नियंत्रण बोर्ड ने कुछ जगहों पर सैंपल लिए, नोटिस दिए, लेकिन मामला चेतावनी से आगे नहीं बढ़ा। नतीजा यह है कि संचालकों के हौसले बुलंद हैं और वे मान चुके हैं कि 'सेटिंग' से सब कुछ मैनेज हो जाएगा।

खुले में जलते इस कचरे से सबसे ज्यादा खतरा सफाई कर्मियों और आसपास रहने वाले गरीब परिवारों को है। जैव-चिकित्सा कचरे में हेपेटाइटिस-बी, एचआईवी और टीबी जैसे रोगों के जीवाणु हो सकते हैं। आग से ये पूरी तरह नष्ट नहीं होते और राख के साथ हवा, पानी और मिट्टी में फैल सकते हैं। धुएं में मौजूद डाइऑक्सिन कैंसर का कारण बन सकता है। बच्चों में जन्मजात विकृतियों और गर्भवती महिलाओं में गर्भपात का खतरा भी बढ़ सकता है। डॉक्टरों का कहना है कि भोपाल के कई इलाकों में सांस की बीमारियां, त्वचा संक्रमण और आंखों में जलन के मरीज बढ़े हैं, लेकिन इनका सीधा संबंध कचरे के धुएं से जोड़ना कठिन है, क्योंकि इस विषय पर कोई व्यापक अध्ययन नहीं हुआ है। प्रदूषण नियंत्रण बोर्ड के पास न पर्याप्त स्टाफ है और न ही ऐसी प्रयोगशाला सुविधा कि वह राख और धुएं के नमूनों की नियमित जांच कर सके। इसी का फायदा लापरवाह अस्पताल उठा रहे हैं।

कचरा प्रबंधन शुल्क के नाम पर हर अस्पताल से नगर निगम मोटी रकम वसूलता है, लेकिन उस राशि से इंसीनेटर की प्रभावी निगरानी नहीं होती। कागजों में दिखाया जाता है कि पूरा कचरा अधिकृत प्लांट तक पहुंच रहा है, जबकि सड़क पर जलती आग सच्चाई बयान कर रही है। ठेकेदार रात में कचरा उठाते हैं और सुबह निगम को औपचारिक रजिस्टर थमा देते हैं। जीपीएस वाले वाहन या तो खराब पड़े रहते हैं या उनके रूट बदल दिए जाते हैं। नौकरशाही की मेहरबानी का आलम यह है कि कई अस्पतालों के पास इंसीनेटर का अनुबंध तक नहीं है, फिर भी उनका लाइसेंस हर साल नवीनीकृत हो जाता है। स्वास्थ्य विभाग के निरीक्षण में बायोमेडिकल वेस्ट का कॉलम केवल औपचारिकता बनकर रह गया है। अधिकारी हस्ताक्षर कर देते हैं और फाइल आगे बढ़ जाती है। जब मीडिया में खबर आती है तो दो दिन छापेमारी होती है और फिर सब कुछ शांत हो जाता है।

समाधान सख्त निगरानी में है। हर अस्पताल के गेट पर सीसीटीवी लगाना अनिवार्य हो और कचरा उठाने वाले वाहनों की लाइव ट्रैकिंग प्रदूषण नियंत्रण बोर्ड के कंट्रोल रूम से हो। दूसरा समाधान केवल जुर्माना नहीं, बल्कि जेल है। बायोमेडिकल वेस्ट मैनेजमेंट रूल्स, 2016 के तहत उल्लंघन पर पांच वर्ष तक की सजा और एक लाख रुपये तक जुर्माने का प्रावधान है, लेकिन आज तक किसी संचालक को जेल नहीं हुई। जब तक दो-चार बड़े अस्पतालों के संचालकों पर कठोर कार्रवाई नहीं होगी, तब तक भय का वातावरण नहीं बनेगा। जनभागीदारी भी जरूरी है। यदि मोहल्ले के लोग खुले में कचरा जलता देखें तो उसकी फोटो खींचकर सीएम हेल्पलाइन या एनजीटी के माध्यम से शिकायत करें और उसकी पावती लें। प्रशासन को 48 घंटे के भीतर कार्रवाई करनी चाहिए। प्लाज्मा पायरोलिसिस और ऑटोक्लेव जैसी तकनीकों से कचरे का बिना धुआं किए सुरक्षित निस्तारण किया जा सकता है। सरकार को छोटे अस्पतालों के लिए साझा प्लांट स्थापित करने पर प्रोत्साहन देना चाहिए। साथ ही जिस क्षेत्र में खुले में कचरा जलता मिले, वहां के प्रदूषण नियंत्रण बोर्ड अधिकारी, नगर निगम के जोनल अधिकारी और सीएमएचओ की संयुक्त जवाबदेही तय हो। यदि तीन बार ऐसी घटना दोहराई जाए तो उनके विरुद्ध भी कठोर कार्रवाई हो।

एनजीटी को भी अपनी भूमिका अधिक सक्रियता से निभानी होगी। केवल जुर्माना लगाने से काम नहीं चलेगा। उसे हर तीन महीने में राज्यों से अनुपालन रिपोर्ट लेकर सार्वजनिक करनी चाहिए, ताकि लोगों को पता चल सके कि उनके शहर में कितना जैव-चिकित्सा कचरा नियमों के अनुसार नष्ट हुआ और कितना खुले में जलाया गया। अस्पताल जीवन बचाने की जगह हैं, लेकिन जब वही अस्पताल बीमारी फैलाने लगें तो चिंता स्वाभाविक है। राजधानी की सड़कों पर जलता कचरा केवल नियमों की धज्जियां नहीं उड़ा रहा, बल्कि आने वाली पीढ़ियों के फेफड़ों में जहर भर रहा है। यदि नौकरशाही की उदासीनता और एनजीटी की सुस्ती इसी तरह जारी रही तो एक दिन यह धुआं मंत्रालय के कमरों तक भी पहुंचेगा। इसलिए समय की मांग है कि कचरा केवल इंसीनेटर में जले, सड़क पर नहीं, और लापरवाहों पर ऐसी कार्रवाई हो कि दोबारा नियम तोड़ने का साहस न कर सकें। तभी कानून का राज स्थापित होगा और लोगों की सांसें सुरक्षित रह सकेंगी।

(नईदुनिया संपादकीय डेस्क)

एक थाना, 52 जिलों का बोझ; साइबर ठग बेखौफ

मध्य प्रदेश में साइबर अपराध का ग्राफ हर दिन बढ़ रहा है, पर इससे लड़ने की जिम्मेदारी अकेले भोपाल के कंधों पर है। पूरे प्रदेश के 52 जिलों की डिजिटल जांच का बोझ भोपाल साइबर थाने पर है। नतीजा यह है कि ठग हर साल करीब 600 करोड़ रुपये की चपत लगा रहे हैं और आम आदमी की जेब खाली हो रही है। 52 जिलों का बोझ अगर एक थाने पर रहेगा, तो ठगों की मौज रहेगी और जनता लुटती रहेगी। साइबर अपराध अब हर घर तक पहुंच गया है और इससे लड़ने के लिए थाना भी हर जिले तक पहुंचाना होगा। स्टाफ, तकनीक और बजट की कमी दूर करनी होगी, वरना 'सेफ क्लिक' अभियान पोस्टर तक सिमट जाएगा और 600 करोड़ रुपये का आंकड़ा अगले साल 1,000 करोड़ रुपये हो जाएगा। भोपाल को नोडल सेंटर बनाया जा सकता है, पर हर जिले को लड़ाकू बनाना ही असली समाधान है। जब तक जिला स्तर पर साइबर थाना, प्रशिक्षित बल और फोरेंसिक लैब नहीं होगी, तब तक साइबर ठगों पर लगाम लगाना मुश्किल है। अब फैसला शासन को करना है कि फाइल आगे बढ़ेगी या जनता की गाढ़ी कमाई यूं ही लुटती रहेगी।

जिला स्तर पर साइबर थाना खोलने का प्रस्ताव तीन साल से अटका है। पुलिस मुख्यालय ने हर जिले में अलग थाना और हर थाने में साइबर हेल्प डेस्क का खाका शासन को भेजा था। योजना थी कि शुरुआत बड़े शहरों से हो और फिर पूरे प्रदेश में नेटवर्क फैले, लेकिन बजट की कमी ने फाइल को आगे नहीं बढ़ने दिया। आज स्थिति यह है कि जिला पुलिस के पास तकनीकी टीम नहीं है और स्थानीय थाने सीमित स्टाफ के साथ सिर्फ एफआईआर दर्ज कर पाते हैं।

केवल भोपाल साइबर सेल में बीते साल 3.51 करोड़ रुपये से अधिक की ठगी के मामलों में केस दर्ज हुए। पूरे प्रदेश का आंकड़ा 600 करोड़ रुपये पार कर गया है। हर केस में डिजिटल ट्रेल खंगालनी होती है, बैंक से लेन-देन का ब्योरा लेना होता है, सर्वर लॉग निकालने होते हैं और आरोपी की लोकेशन ट्रेस करनी होती है। एक केस निपटाने में हफ्तों लग जाते हैं और रोज दर्जनों नए मामले टेबल पर आ जाते हैं। पूरे प्रदेश में साइबर पुलिस के स्वीकृत पद सिर्फ 290 हैं। इनमें भी 30 से ज्यादा पद खाली हैं। जो स्टाफ मौजूद है, उसमें आईटी और कंप्यूटर साइंस के विशेषज्ञों की भारी कमी है। हैकिंग, डिजिटल फोरेंसिक, सर्वर विश्लेषण और मनी ट्रेल रिकवरी जैसे कामों के लिए प्रशिक्षित लोगों की जरूरत है। 27 साइबर कंसल्टेंट की भर्ती का प्रस्ताव दो साल से लंबित है। बिना विशेषज्ञों के तकनीकी जांच अधूरी रह जाती है। राज्य स्तर पर आधुनिक साइबर फोरेंसिक लैब, साइबर हेल्पलाइन 1930 के लिए कॉल सेंटर, ठगी की रकम तुरंत होल्ड कराने वाला मिटिगेशन सेंटर और डिजिटल जांच प्रणाली मजबूत करने की योजनाएं बनी थीं, पर बजट जारी नहीं हुआ। फाइलें आगे नहीं बढ़ीं। नतीजा यह है कि ठग एक क्लिक में खाता खाली कर देते हैं और पुलिस कागजी प्रक्रिया पूरी करने में महीनों लगा देती है।

डिजिटल अरेस्ट, फर्जी बिजली बिल, ओटीपी फ्रॉड, केवाईसी अपडेट, लोन ऐप और सोशल मीडिया फ्रेंड रिक्वेस्ट के जाल में रोज सैकड़ों लोग फंस रहे हैं। अब ठग एआई वॉइस क्लोन से रिश्तेदार की आवाज में कॉल करते हैं, यूपीआई लिंक भेजते हैं और सेकंडों में पैसा पार हो जाता है। छतरपुर के हरपालपुर में 16 वर्षीय किशोर ऑनलाइन बेटिंग ऐप के जाल में फंसकर जान दे बैठा। उसके मोबाइल में 22 बेटिंग ऐप मिले। यह बताता है कि साइबर अपराध अब केवल आर्थिक नहीं, बल्कि सामाजिक संकट भी बन चुका है।

मुख्यमंत्री के आदेश पर पुलिस ने 'सेफ क्लिक 2.0' अभियान शुरू किया है। प्रदेशभर में 50 लाख लोगों को जागरूक करने का लक्ष्य है। स्कूल, कॉलेज, सरकारी दफ्तर और सार्वजनिक स्थानों पर ऑनलाइन फ्रॉड से बचने के तरीके बताए जा रहे हैं। डिजिटल अरेस्ट, फर्जी लिंक, ओटीपी साझा न करने और केवाईसी के नाम पर आने वाली कॉल से सतर्क रहने की जानकारी दी जा रही है। लेकिन जागरूकता अकेले काफी नहीं है। जब तक कार्रवाई की रफ्तार नहीं बढ़ेगी, तब तक ठग नहीं रुकेंगे।

साइबर मामलों में समय सबसे बड़ा हथियार है। ठगी के पहले 30 मिनट में खाता फ्रीज हो जाए, तो रकम बच सकती है। लेकिन भोपाल से हर जिले की अनुमति लेने और फिर बैंक से संपर्क करने में घंटों लग जाते हैं। तब तक पैसा कई वॉलेट के जरिए निकाल लिया जाता है। जिला स्तर पर साइबर थाना होगा, तो स्थानीय बैंक, स्थानीय सर्वर और स्थानीय आरोपी तक पुलिस की पहुंच तुरंत बनेगी और रिकवरी की उम्मीद भी बढ़ेगी।

शासन को चाहिए कि तीन साल से अटके प्रस्ताव को मंजूरी दे और पहले चरण में संभाग मुख्यालयों पर साइबर थाने खोले। दूसरे चरण में 290 स्वीकृत पदों को शत-प्रतिशत भरे और 27 साइबर कंसल्टेंट की भर्ती तुरंत पूरी करे। हर जिले में कम से कम एक प्रशिक्षित सब-इंस्पेक्टर और दो आरक्षक तैनात किए जाएं। राज्य स्तरीय फोरेंसिक लैब को अपग्रेड किया जाए और हर जोन में मिनी लैब स्थापित की जाए। 1930 हेल्पलाइन को 24 घंटे सक्रिय रखा जाए और कॉल आते ही बैंक को ऑटो अलर्ट भेजने की व्यवस्था की जाए। साइबर अपराध रोकने पर किया गया खर्च वास्तव में बचत है। यदि हर साल होने वाली 600 करोड़ रुपये की ठगी रुक जाए, तो वही पैसा प्रदेश के विकास में लगाया जा सकता है। जिला खनिज निधि, स्मार्ट सिटी फंड और गृह विभाग के आधुनिकीकरण मद से इसकी शुरुआत हो सकती है। केंद्र सरकार की साइबर क्राइम प्रिवेंशन स्कीम से मैचिंग ग्रांट भी प्राप्त की जा सकती है। पुलिस के भरोसे सब कुछ नहीं छोड़ा जा सकता। हर मोबाइल उपयोगकर्ता को भी सतर्क रहना होगा। अनजान लिंक पर क्लिक न करें, ओटीपी किसी को न बताएं, क्यूआर कोड स्कैन कर पैसा लेने के झांसे में न आएं, सोशल मीडिया पर निजी जानकारी कम साझा करें, बच्चों के फोन में पैरेंटल कंट्रोल लगाएं और किसी भी संदिग्ध कॉल या साइबर ठगी की स्थिति में 1930 पर तुरंत सूचना दें। 52 जिलों का बोझ अगर एक थाने पर रहेगा, तो ठगों की मौज रहेगी और जनता लुटती रहेगी। साइबर अपराध अब हर घर तक पहुंच चुका है और इससे लड़ने के लिए साइबर थाना भी हर जिले तक पहुंचाना होगा। स्टाफ, तकनीक और बजट की कमी दूर करनी होगी, वरना 'सेफ क्लिक' अभियान पोस्टरों तक ही सिमटकर रह जाएगा।

(नईदुनिया संपादकीय डेस्क)

'मेरा ही चलेगा' की हिटलरशाही अब मैदान में...

खेल से लेकर शांति तक

दुनिया ने राजनीति में तानाशाही देखी है, व्यापार में धौंस देखी है और तेल के सौदों में दबाव की राजनीति भी देखी है। अब खेल के मैदान में भी वही पुराना नुस्खा दिखाई देने लगा है-नियम मैं बनाऊंगा, रेफरी मैं तय करूंगा, ट्रॉफी भी मेरी होगी और ताली भी मैं ही बजवाऊंगा। जब सत्ता का अहंकार बढ़ता है तो स्टेडियम भी सत्ता प्रदर्शन का मंच बन जाता है और स्वर्ण पदक भी प्रतिष्ठा के बजाय प्रभुत्व का प्रतीक बन जाता है।

कुछ समय पहले तक दावा किया जा रहा था कि विश्व शांति इन्हीं के कारण कायम है और नोबेल पुरस्कार का सबसे बड़ा हकदार भी वही हैं। दुनिया ने इन दावों पर मुस्कुराकर प्रतिक्रिया दी, लेकिन उस मुस्कान के पीछे चिंता भी थी। जब कोई व्यक्ति या देश हर मंच पर स्वयं को नायक घोषित करने लगे, तो समझ लेना चाहिए कि अगला लक्ष्य किसी और का नहीं, पूरी व्यवस्था का है। अब वही तेवर खेलों में भी दिखाई दे रहे हैं। फीफा विश्व कप के दौरान अमेरिकी राष्ट्रपति का मैदान में उतरना, रेफरी को रेड कार्ड दिखाने की मुद्रा बनाना और कैमरों के सामने ट्रॉफी को इस तरह लहराना, मानो वह निजी संपत्ति हो, खेल भावना का प्रदर्शन नहीं, बल्कि शक्ति का संदेश था।

खेलों में राजनीति का दखल नया नहीं है, लेकिन राजनीति द्वारा खेलों को अपने प्रभाव का माध्यम बना लेना निश्चित रूप से चिंताजनक है। पहले ऊर्जा बाजारों में दबाव बनाया गया, फिर कूटनीति में मध्यस्थता का श्रेय लेने की होड़ लगी और अब खेल भी उसी प्रभाव की परिधि में आते दिखाई दे रहे हैं। मेजबानी, प्रायोजन, प्रसारण अधिकार और वैश्विक प्रभाव-सब कुछ कुछ शक्तिशाली देशों के इर्द-गिर्द सिमटता जा रहा है। प्रतियोगिता का उद्देश्य निष्पक्ष मुकाबला होना चाहिए, न कि प्रभाव और संसाधनों की ताकत का प्रदर्शन।

कल्पना कीजिए कि यदि कोई आयोजक देश यह कहने लगे कि निर्णायक हमारे होंगे, नियम हमारी सुविधा के अनुसार बदलेंगे, डोपिंग जांच हमारी शर्तों पर होगी और विवाद होने पर अंतिम फैसला भी हमारा ही होगा, तो खेल की आत्मा का क्या होगा? आज यह कल्पना लग सकती है, लेकिन यदि संस्थाएं निष्पक्ष न रहीं तो कल यह वास्तविकता भी बन सकती है। जिस व्यवस्था में हर चीज को सौदे की नजर से देखा जाए, वहां खेल भी एक सौदा बनकर रह जाएगा।

खेल की असली ताकत बराबरी, परिश्रम और निष्पक्ष प्रतिस्पर्धा में है। जब कोई ताकतवर देश मैदान में भी विशेष अधिकार चाहता है, तो बराबरी की भावना कमजोर पड़ने लगती है। फिर ओलंपिक और विश्व कप वैश्विक खेल प्रतियोगिताएं नहीं, बल्कि बड़े आर्थिक और राजनीतिक हितों का मंच बन जाते हैं। तानाशाही हमेशा वर्दी पहनकर नहीं आती। कभी वह मुस्कुराते हुए ट्रॉफी थमाती है, कैमरों के सामने तस्वीरें खिंचवाती है और पर्दे के पीछे नियमों को अपने अनुकूल बदल देती है।

खेल संगठनों पर दबाव, प्रसारण अधिकारों पर नियंत्रण, खिलाड़ियों को वीजा के नाम पर रोकना या सुरक्षा कारणों का हवाला देकर प्रतिस्पर्धा को प्रभावित करना-ये सभी संकेत खेलों की स्वायत्तता के लिए चुनौती हैं। सबसे चिंताजनक बात यह है कि इन पर अक्सर तालियों और चमक-दमक का पर्दा डाल दिया जाता है। दर्शकों का उत्साह, विज्ञापनों की चकाचौंध और प्रसारण की भव्यता के बीच कोई यह सवाल नहीं पूछता कि निर्णयों पर प्रभाव किसका है।

इतिहास गवाह है कि जब-जब खेलों को राजनीतिक हथियार बनाया गया, खेल भावना को नुकसान पहुंचा। 1936 के ओलंपिक हों या 1980 और 1984 के बहिष्कार, हर बार खिलाड़ियों के सपनों पर राजनीति भारी पड़ी। आज भी सबसे अधिक नुकसान उन खिलाड़ियों का होगा, जो वर्षों तक केवल एक पदक के लिए कठिन परिश्रम करते हैं। केन्या का धावक, क्यूबा का मुक्केबाज या भारत की पहलवान-इनके पास न प्रभावशाली लॉबी है, न आर्थिक ताकत। इनके पास केवल प्रतिभा और मेहनत है। यदि खेल भी शक्ति प्रदर्शन का माध्यम बन गया, तो निष्पक्ष प्रतिस्पर्धा का सपना कमजोर पड़ जाएगा।

अब समय आ गया है कि फीफा, अंतरराष्ट्रीय ओलंपिक समिति और अन्य खेल संस्थाएं अपनी स्वायत्तता और निष्पक्षता को मजबूत करें। छोटे और विकासशील देशों को भी एकजुट होकर खेलों में समान अवसर और निष्पक्ष व्यवस्था की आवाज उठानी होगी। मीडिया की जिम्मेदारी भी केवल स्कोर और रिकॉर्ड तक सीमित नहीं हो सकती। उसे खेलों के पीछे चल रही नीतियों और प्रभावों पर भी गंभीर चर्चा करनी होगी। खेल मानवता की उन विरल जगहों में से एक है, जहां जाति, रंग, भाषा और सीमाओं से ऊपर उठकर केवल प्रतिभा का सम्मान होता है। यदि यहां भी शक्ति और राजनीति हावी हो गई, तो हार किसी एक खिलाड़ी की नहीं, पूरी खेल भावना की होगी।

(नईदुनिया संपादकीय डेस्क)